३

वीतरागता का पाथेय : धर्म

आज हर गली, हर बाजार और हर द्वार पर धर्म की चर्चाएँ हो रही हैं, धर्म का शोर मचाया जा रहा है, धर्म की दुहाई दी जा रही है, और धर्म के नाम पर लड़ाई भी लड़ी जा रही है। किन्तु, पता नहीं, वे इस प्रश्न पर भी कभी सोचते हैं या नहीं कि यह धर्म है क्या चीज ? उसका क्या लक्षण है ? क्या स्वरूप है उसका और उसका अर्थ क्या है ? जो हमेशा धर्म की बातें करते हैं, क्या उन्होंने कभी इस प्रश्न पर भी विचार किया है ?

धर्म की गहराई :

सैकड़ों-हजारों वर्ष पहले इस प्रश्न पर चिन्तन चला है, इस गुत्थी को सुलझाने के लिए चिन्तन की गहराइयों में पैठने का प्रयत्न भी किया गया है और धर्म के सम्बन्ध में अनेक प्रकार के निर्णय एवं निष्कर्ष प्रस्तुत किए गए हैं। यह निश्चय है कि सागर के ऊपर तैरने से कभी मणि-मुक्ता नहीं मिलते। मोतियों और रत्नों के लिए तो उसकी गहराइयों में डुबकियाँ लगानी पड़ती है। तो फिर, ज्ञान और सच्चाई को पाने के लिए क्यों न हम उसकी गहराई में उतरने का प्रयत्न करें ? चिन्तन-मनन ऊपर-ऊपर तैरते रहने की वस्तु नहीं है, वह तो गहराई में और बहुत गहराई में पैठने से ही फलित होता है। जो जितना गहरा गोता लगाएगा, वह उतने ही मूल्यवान मणि-मुक्ता प्राप्त कर सकेगा। तभी तो हमारे यहाँ कहा जाता है—**"जिन खोजा तिन पाइया, गहरे पानी पैठ।"**

अत: सत्य के दर्शन के लिए आत्म-सागर की अतल गहराइयों को नापना होगा, जिससे चिन्तन-मनन के महार्घ मोती पा सकेंगे। हाँ, इतना अवश्य हो सकता है, समुद्र के किनारे-किनारे घूमने वाले उसके लुभावने सौंदर्य का दर्शन कर सकते हैं और शीतल-मंद समीर का आनन्द लूट सकते हैं, किन्तु सागर के तट पर घूमने वाला व्यक्ति कभी भी उसकी अतल गहराई और उसके गर्भ में छिपे मोतियों के बारे में कुछ नहीं जान सकता। वैदिक सम्प्रदाय के एक आचार्य मुरारि ने कहा है कि—भारत के तट से लंका के तट तक पहुँचने के लिए मर्यादा पुरुषोत्तम राम की सेना के बहादुर बानरों ने अपनी लम्बी उड़ानों से लंका तक के सागर को लाँघा तो जरूर, पर उन्हें समुद्र की गहराई का क्या पता कि वह कितनी है ? सागर की सही गहराई को तो वह मंथाचल पर्वत ही बता सकता है, जिसका मूल पाताल में बहुत गहरा है।

यह सही है कि सागर की गहराई और विस्तार साधारण बुद्धि के लिए सीमांकन से परे है, किन्तु जीवन की, सत्य की गहराई उससे भी कहीं अनंत गुनी है। यदि महावीर के शब्दों में कहा जाए, तो वह महासमुद्रों से भी अधिक गम्भीर है।[१]

अनन्त काल से यह अबोध जीव—यात्री जीवन के लहराते समुद्र को पार करता आ रहा है। अनन्त काल बीत गया, किन्तु अभी तक वह यह नहीं जान पाया कि यह जीवन क्या है ? मैं कौन हूँ ? क्यों भटक रहा हूँ ? मेरा तट और धर्म क्या है ? यात्री के सामने इन सारे प्रश्नों का अपना एक विशिष्ट महत्त्व है ? इनकी गहराई में जाना, उसके लिए अनिवार्य है।

---

१. "गंभीरतरं-महासमुद्दाओ।"—प्रश्नव्याकरण २।२.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस धरती पर जो भी महापुरुष हुए हैं, जिन्होंने इस सत्य के सागर की गहराइयों का थाह पाया है, उन्होंने अवश्य इस पर विचार किया है। सत्य के इस मर्म को उभाड़ा है, जीवन की गहराई की परत उठाकर उसका वास्तविक दर्शन कराने का प्रयास किया है। धर्म का स्वरूप स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा है—**'वत्थुसहावो धम्मो।'**

वस्तु (द्रव्य, पदार्थ) का जो मूल रूप है, अपना भाव है, वही तो वस्तु का धर्म है। प्रत्येक वस्तु का एक निश्चित रूप होता है, और वही उसका धर्म होता है। इस दृष्टि से धर्म का अर्थ हुआ—वस्तु का अपना स्वभाव। आत्मा भी एक वस्तु है और संसार के समस्त पदार्थों में एक विशिष्ट शक्ति-संपन्न, चेतनापुंज है। तो फिर दूसरों से पूछने की अपेक्षा, अपने से ही पूछें कि मेरा धर्म क्या है? इस संसार के चौराहे पर तेरे घूमने का क्या उद्देश्य है? क्या तू आकाश, जल, अग्नि, मिट्टी और वायु—इन पंचभूतों का सम्मिश्रण मात्र है? अथवा अन्य कुछ है? आत्मा को पहचानने वालों ने इस सम्बन्ध में अपना उत्तर दिया है कि—इन पंचभूतों के अस्थिपंजर, हाड़-माँस, रक्त और मज्जा से निर्मित शरीर से परे तू एक और सत्ता है, तू महान् है, विराट् है, संसार के समस्त पदार्थों में तेरा सर्वोपरि स्थान है।

आश्चर्य तो यह है कि अन्य जड़ वस्तुओं की भाँति यह आत्मा भी स्वयं अपना मूल्य नहीं समझ पा रहा है। मूल्य की दृष्टि से संसार में हीरे का मूल्य बहुत आँका जाता है। कोहेनूर हीरे के बारे में कहा जाता है—वह महाभारत काल में धर्मराज युधिष्ठिर के पास था। तब से संसार के सम्राटों के पास घूम रहा है। उसका एक विशिष्ट मूल्य है। किन्तु, लाखों कोहेनूर हीरों का ढेर लगा कर उनसे पूछा जाए कि तुम्हारा क्या मूल्य है? तो क्या वे बता सकेंगे? उन्हें स्वयं अपना कुछ पता नहीं है, क्योंकि वे जड़ हैं। यही दशा एक मिट्टी के ढेले की है। दोनों ही जड़ हैं। इस अर्थ में दोनों ही समान हैं। किन्तु, फिर कोहेनूर का मूल्य आया कहाँ से? उसका मूल्यांकन करने वाला कौन है? कहना होगा—उसको परखने की शक्ति इन्सान की आँखों में है। मान लीजिए, यदि कोहेनूर रास्ते में पड़ा हो और एक अन्धे के पैर में चुभे, तो क्या उसे ज्ञान हो सकेगा कि यह कोहेनूर है? उसकी दृष्टि में तो वह कोई कंकर है, पत्थर का टुकड़ा मात्र है।

अन्तर् का शास्ता :

ऊपर की चर्चा से यह निष्कर्ष निकलता है कि कोहेनूर का मूल्य-निर्धारण स्वयं उसमें नहीं है, बल्कि इन्सान की आँख में है। एक प्रश्न फिर उठ सकता है, तो जब मूल्य-निर्धारण का मापदण्ड आँख ही हुई और आँख जब स्वयं ही सीमाबद्ध है, तथा जो अपने आपको ही नहीं देख सकती, वह दूसरे का मूल्यांकन कैसे करेगी? कोहेनूर भी मौजूद है, आँख भी मौजूद है, किन्तु आँख की खिड़की से झाँकने वाला चैतन्य यदि नहीं है, तो उसका क्या मूल्य? आँख, कान आदि शरीर की प्रत्येक इन्द्रिय का, ज्ञात-अज्ञात प्रत्येक चेष्टा का, जो संचालक है, शास्ता है, यदि उसका अस्तित्व ही नहीं है, तो न आँख का मूल्य है और न कोहेनूर का ही। हमारी आँख, कान, नाक, जिह्वा आदि इन्द्रिय-शक्तियाँ तो उसी महाशास्ता से शासित हैं। यदि वह शास्ता नहीं रहता है, तो फिर सबका मूल्य शून्य हो जाता है। इसलिए आँख के प्रकाश से जो देखने वाला तत्त्व है, वही अन्दर का शास्ता है, सभी शक्तियों का अधिष्ठाता है। इसी पवित्र सत्ता, दिव्य शक्ति, एवं चेतना-पुंज का जो साक्षात्कार है, वीतराग भाव की अनुभूति है, वही धर्म है। उसकी जो व्याख्या करे, वही शास्त्र है। हमारी साधना उसी अनन्त चैतन्य प्रकाश को खोजने की है, पाने की है। जो साधना ऐसा नहीं करती है, वह साधना कदापि नहीं है।

यहाँ पर एक प्रश्न और खड़ा हो जाता है कि जो स्वयं प्रकाश का स्रोत है, उसकी खोज हम क्यों करें? कैसे करें? प्रश्न ठीक है, किन्तु यह भी तो आप न भूलें कि दिया-सलाई में अग्नि तत्त्व के बीज विद्यमान होते हुए भी प्रकाश के लिए उसे रगड़ना नहीं होता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है क्या ? ठीक उसी प्रकार, अन्तर में जो यह महाप्रकाश का पुंज है, वह आवरणों से ढँका हुआ है, अन्तर् का वह शास्ता अपने आपको भुला बैठा है, अतः उसे सिर्फ अपने निज स्वरूप का, अपनेपन का भान हो सके, ऐसी एक उदात्त प्रेरणा की आवश्यकता है। आप जानते हैं, सामायिक, संवर, व्रत, प्रत्याख्यान आदि का क्या अर्थ है ? क्या इनसे किसी नवीन आत्म-शक्ति के प्रादुर्भाव की आकांक्षा है ? ये सब तो केवल उस शक्ति को जागृत करने के साधन मात्र हैं, प्रेरणा की एक चिनगारी मात्र हैं, जिनके माध्यम से आत्मा निज स्वरूप का यथार्थ बोध कर सके।

प्रेरणा की चिनगारी :

भारत के प्राचीन इतिहास में वर्णन आता है कि जब कोई बहुत बड़ा सहस्र-योधी क्षत्रिय वीर मैदान में लड़ता-लड़ता शिथिल होने लगता था, अपना-आपा भूल जाता था, तो पीछे से एक बुलन्द आवाज आती थी—लड़ो, लड़ो। यह आवाज सुनकर वह पुनः चैतन्य हो उठता था और तब पुनः उसके हाथों में तलवार चमक उठती थी। प्राचीन समय के युद्धक्षेत्रों में जो चारणों की व्यवस्था रहती थी, उसके पीछे यह भावना निहित थी। वे समय-समय पर वीरों के ठंडे पड़ते खून में उफान ला देते थे। सोते हुए पुरुषार्थ को जगा कर मैदान में रणचण्डी के समक्ष ढकेल देते थे। महाभारत में अर्जुन को श्रीकृष्ण से निरंतर प्रेरणा मिलती रही कि यह जीवन तेरे कर्तव्योचित युद्ध के लिए है, इससे मुँह मोड़कर अपनी क्लीवता प्रकट मत कर। इसी प्रकार इस जीवन-संग्राम में प्रत्येक साधक अर्जुन है, और प्रत्येक गुरु श्रीकृष्ण ! गुरु साधक को विकारों से लड़ने के लिए निरंतर प्रेरित करते हैं—जब-जब काम, क्रोध, मान, माया, लोभ, प्रमाद, मोह का आवरण आत्मा पर पड़ता है, तब-तब गुरु उसे सावधान करते रहते हैं। चेतना की उस दिव्य दीप्त चिनगारी पर जब-जब विकारों की राख जमने लगती है, तो व्रत, उपवास, प्रत्याख्यान आदि के द्वारा उसे हटाने का प्रयत्न होता है। ये सब विकारों के लोह-आवरणों को तोड़कर आत्मा के शुद्ध स्वरूप का दर्शन कराने के लिए ही साधना के क्रम हैं।

आत्म-दर्शन :

आत्म-स्वरूप का सम्यक्-ज्ञान होने के बाद विभाव के बंधन टूटने में कोई समय नहीं लगता। जिस प्रकार काली घटाओं से आच्छादित अमावस की कालरात्रि का सघन अंधकार दीपक के जलते ही दूर भाग जाता है। पर्वतों की कन्दराओं में हजारों वर्षों से रहने वाले उस गहन अंधकार को प्रकाश की एक किरण एक क्षण में ही समाप्त कर डालती है, और उसी क्षण सब ओर आलोक की पुनीत रश्मियाँ जगमगा उठती हैं। जैन-दर्शन के अनुसार, उत्पत्ति और व्यय का क्षण बिल्कुल संयुक्त रहता है। सृष्टि और संहार का काल एक ही होता है। यह नहीं होता कि प्रकाश पहले हो, तदनन्तर कुछ समय के बाद अन्धकार नष्ट हो या अन्धकार पहले नष्ट हो, तदनन्तर प्रकाश जगमगाए। प्रकाश का प्रादुर्भाव और अन्धकार का नाश एक क्षण में ही दोनों होते हैं। ठीक वैसे ही आत्मा पर चिपके हुए बाह्य आवरणों के टूटने का और आत्म-स्वभाव के प्रकट होने का कोई अलग-अलग समय नहीं है। आत्म-स्वभाव के जागते ही विभाव समाप्त हो जाता है। घर में प्रकाश फैलते ही तत्काल अंधकार दूर हो जाता है, समस्त वस्तुएँ अपने आप प्रतिभासित हो जाती हैं।

सवाल यह है कि हमने धर्म को जानने का एक अभिनय मात्र ही किया है या वास्तव में जाना भी है ? जिस व्यक्ति ने अपने को पहचान लिया, उसने निज-स्वरूप धर्म को भी पहचान लिया। वह भटकता नहीं। जिसे आत्मा की अनन्तानन्त शक्तियों का पता नहीं, वह वासनाओं और विकारों के द्वार पर ही भटकता रहता है। यदि आप एक चक्रवर्ती के पुत्र को गली-कूचे में भीख माँगते देखेंगे, तो सम्भव है, पहले क्षण आप अपनी आँखों

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पर भरोसा न करें, किन्तु सही तथ्य के अवगत होने पर तो अवश्य ही सोचेंगे कि इसमें कहीं कोई गड़बड़ है क्या ? दाल में काला है क्या ? या तो यह चक्रवर्ती का पुत्र नहीं है, या अपनी स्थिति को भूल कर पागल एवं विक्षिप्त हो गया है ! इसी प्रकार राम, कृष्ण, महावीर, बुद्ध आदि महापुरुषों की संतान तथा महान् आत्माओं के उत्तराधिकारी हम यदि वासनाओं, इच्छाओं और कामनाओं के द्वार पर भीख माँगते फिरते हैं, विषयों के गुलाम हुए बैठे हैं, तो यह प्रश्न उठना स्वाभाविक ही है कि कहीं हम उन महापुरुषों के नकली उत्तराधिकारी तो नहीं हैं ? आज हमें भान नहीं रहा है कि हम कौन हैं ? और, हमारी मर्यादाएँ क्या हैं ? यदि हम सच्चे अर्थ में उन महान् आत्माओं के उत्तराधिकारी हैं, तो हममें करुणा क्यों नहीं जगती है ? सत्य का प्रकाश क्यों नहीं होता है ? विकारों को ध्वस्त करने के लिए वीरत्व क्यों नहीं उछालें मारता है ? आत्म-स्वरूप को भुलाकर हम दीन-हीन बने हुए क्यों दर-दर की ठोकरें खा रहे हैं ? हमारे उत्तराधिकार के दावे पर वास्तव में यह एक प्रश्न-चिन्ह है ?

आत्म-शक्ति की बात पर हमें यह भी नहीं भूलना है कि सिर्फ पाँच-छह फुट के शरीर की शक्ति ही आत्म-शक्ति नहीं हैं। उसकी छोटी-सी परिधि ही आत्मा की परिधि नहीं है। शरीर, इन्द्रिय और मन की शक्ति या चेतना तो मात्र औपचारिक है, वास्तविक शक्ति का स्रोत तो हमारी आत्मा ही है। कुछ लोग अवधिज्ञान के विषय में पूछते रहते हैं, उसकी प्राप्ति के लिए बहुत लालायित रहते हैं, किन्तु मैं पूछता हूँ कि अवधिज्ञान प्राप्त करने से क्या होगा ? अवधिज्ञान के द्वारा यदि स्वर्ग, नरक आदि का ज्ञान हो गया, मेरु पर्वत की स्थिति का पता चल गया, संसार की हरकतों और हलचलों का लेखा-जोखा करने की भी यदि शक्ति मिल गई, तो क्या हुआ ? आत्म-दर्शन के बिना उस अवधिज्ञान का क्या महत्त्व है ? इसी प्रकार मनःपर्यव ज्ञान की प्राप्ति से यदि अपने एवं जगत् के अन्य प्राणियों के मन की उछल-कूद का ज्ञान हो गया, भूत-भविष्य की जानकारी हो गई, मन-रूपी बंदर के खेल देखने और जानने की शक्ति मिल गई, तो इससे लाभ क्या हुआ ? यही कारण है कि केवलज्ञान की प्राप्ति के लिए और उसकी भूमिका में आने के लिए बीच में अवधिज्ञान और मनःपर्यव ज्ञान प्राप्त करने की कोई शर्त नहीं रखी गई है। महत्त्व तो श्रुतज्ञान का है कि जिसके सहारे आत्मा के वास्तविक स्वरूप की झाँकी मिले, भले ही वह परोक्ष रूप में हो, किन्तु उसी के सहारे विकास-पथ पर अग्रसर होती हुई आत्मा एक दिन केवलज्ञान के द्वारा अमूर्त अनन्त आत्म-तत्त्व का साक्षात् बोध कर सकती है।

मुक्ति का मर्म :

आप लोग जानते हैं कि हम जो इतने क्रियाकांड करते हैं, उपवास, संवर, सामायिक आदि करते हैं, खाने-पीने, भोग-विलास आदि इन्द्रियजन्य सुख की वस्तुओं का त्याग करते हैं, वह सब किसके लिए है ? शरीर के साथ हमारी कोई लड़ाई नहीं है कि हम उसे बेदर्दी के साथ सुखा डालें, उसको यों ही सड़ने-गलने दें। जैन-दर्शन की विशिष्टता यही तो है कि उसकी लड़ाई न तो संसार के पदार्थों के साथ है, और न शरीर के साथ। उसकी लड़ाई तो है—आसक्तियों के साथ, राग-द्वेष के साथ। व्रत-उपवास आदि साधन इसीलिए तो हैं कि उनके द्वारा राग-द्वेष को कम किया जाए, आसक्ति को मिटाया जाए। यदि त्याग करने पर भी आसक्ति नहीं हटी, तो वह एक प्रकार का मायाचार होगा। गीता के शब्दों में 'मिथ्याचार' होगा। जिस चोर को निकालने के लिए हमने लड़ाई की, यदि वह घर के भीतर और गहरा जा छुपा, तो यह और भी भयंकर स्थिति होगी। इसीलिए जैन-दर्शन वस्तुओं से हटने का उतना उपदेश नहीं करता, जितना कि आसक्ति से दूर हटने का उपदेश करता है। राग-द्वेष, मोह और आसक्ति के बंधन जितने परिमाण में टूटते हैं, उतने ही परिमाण में हम आत्मा के निकट आते हैं और मुक्ति के निकट आते हैं। लोग कहते हैं, भगवान् महावीर की मुक्ति दिवाली के दिन हुई। जैन-दर्शन की दृष्टि में यह कहना

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पूर्णतः सही नहीं है। उनकी मुक्ति तो उसके बहुत पहले वैशाख शुक्ला दशमी को ही हो चुकी थी। अनुयोगद्वार सूत्र के अनुसार सिद्ध का एक अर्थ केवलज्ञानी भी है। भगवान् महावीर सिद्ध थे, जीवन-मुक्त थे, शरीर में रह कर भी शरीर के घेरे से परे थे, इसीलिए वे इन्द्रियों के रहते हुए भी तो इन्द्रियों से परे थे। चूंकि वे मनो जन्य राग-द्वेष से मुक्त थे। एक आचार्य ने कहा है—**'कषाय-मुक्तिः किल मुक्तिरेव'**

कषाय से मुक्ति ही वास्तविक मुक्ति है। इसी दृष्टि से अनुयोगद्वार सूत्र में कहा है—सिद्ध भगवान् ने ऐसा कहा है। देह से मुक्त होने पर ही यदि सिद्ध होता है, पहले नहीं, तो प्रश्न है—वे कहते कैसे हैं? कहना तो शरीरधारी का ही होता है। अतः स्पष्ट है कि मोह और क्षोभ से रहित वीतराग आत्मा शरीर के रहते हुए भी सिद्ध हो जाती है। मुख्य प्रश्न देहत्याग का नहीं, कषायत्याग का है। वास्तविक मुक्ति भी देहमुक्ति नहीं है, कषायमुक्ति है। जो आत्मा कषाय से मुक्त है, राग-द्वेष से रहित है, वही सच्चे अर्थ में मुक्त है।

इसलिए जब हम मुक्ति की खोज में निकलते हैं, तो हमें अपनी खोज करनी पड़ती है। मुक्ति कहीं बाहर नहीं है, अपने में ही है। और, उस अपनी खोज का, अर्थात् आत्मा की खोज का जो मार्ग है, वही धर्म है। हमें उसी धर्म की आराधना करनी है, साधना करनी है, जो आत्मा का ज्ञान कराए, स्वरूप की उपलब्धि कराए।

स्पष्ट है कि धर्म का तत्त्व आत्मानुसंधान है, आत्मावलोकन है। आत्मावलोकन अर्थात् जिसने अपने अन्तर् का अवलोकन कर लिया, अपने अन्तर्देव का दर्शन कर लिया, जिसने अपनी आत्मा की आवाज—सच्ची, विश्व कल्याणी आवाज का श्रवण कर लिया, उसने धर्म का सार पा लिया। आत्मस्वरूप को समझ लेने पर व्यक्ति के अन्दर विश्व-भाव की उदात्त भावना जागृत हो जाती है, उसकी आवाज विश्वजनीन आवाज होती है। उसका चिन्तन विश्वार्थ चिन्तन होता है। उसका कार्य-विश्वहितंकर कार्य होता है। अतः निष्कर्षतः हम कह सकते हैं कि धर्म का वास्तविक रूप अपने-आप को पहचानना है, अपने अन्तर् का सम्यक्-अवलोकन करना है, जिसके अन्दर प्रेम, मैत्री, करुणा एवं दया का अक्षय निर्झर झरा करता है।

●

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org